



स्त्रियों की वर्तमान दशा और दिशा

अमरेश कुमार सिंह

शोधछात्र, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

कोई भी विचार निर्वात में उत्पन्न नहीं होता बल्कि यह उन परिस्थितियों के गर्भ से जन्म लेता है, जिसमें मूल में जड़ हो चुके समाज की रूढ़ दीवारों को गिराकर परिवर्तन को आत्मसात् करना होता है। निश्चित ही यह परिवर्तन तय कर दिये मानकों और निश्चित कर दी गई भूमिका को बदलकर नए मानक गढ़ने और नई भूमिका तलाशने की एक कवायद होती है। स्त्री विमर्श भी इसी नए नए को खोजने का एक प्रयास है। एक ऐसा प्रयास जो सदियों से निर्धारित कर दी गई उन मान्यताओं से टकराता है जहाँ महिलाओं का प्राइवेट स्फीयर को लांघकर पब्लिक स्फीयर में जाना निषेध है, जहाँ त्याग, शर्म, सहनशीलता स्त्रियों के 'नैसर्गिक गुण' बताए गए हैं और वीरता, विजय, प्रतिरोध को पुरुषत्व का पर्याय, जहाँ स्त्रियों की उड़ान घर की चौखट तक सीमित कर दी गई है, जहाँ स्त्री एक वस्तु है, जहाँ स्त्री का परम ध्येय पुरुष को 'सम्पूर्णता' प्रदान करना है। सार रूप में कहें तो यदि समानता को निर्विवाद सिद्धांत मान लिया जाए तो स्त्री विमर्श स्त्री-पुरुष के बीच व्याप्त असमानता की खाई को पाटकर लिंग निरपेक्ष होकर समान अवसर उत्पन्न करने की एक कोशिश है। इससे आगे बढ़कर कहें तो यह अधिकारों की लड़ाई है। अब, प्रश्न यह है कि आखिर यह लड़ाई किससे है? इसकी शुरुआत कब हुई? क्या इसका चरित्र सार्वभौमिक या सार्वकालिक रूप से समान रहा है या समय तथा स्थान के साथ इसमें परिवर्तन आया है? अधिकारों की यह लड़ाई कहाँ तक पहुँची? ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनसे जूझकर ही हम ये जान पाएंगे कि स्त्री विमर्श की दशा और दिशा किस प्रकार की है?

अगर पहले प्रश्न पर विचार करें कि आखिर यह लड़ाई किसे विरुद्ध है, तो इसके कम-से-कम दो उत्तर दिये जा सकते हैं। यह लड़ाई एक तरफ उस 'मानसिकता' से है जो स्त्रियों को पुरुषों से कमतर मानकर उसे द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति का दर्जा प्रदान करती है, तो दूसरी लड़ाई इस मानसिकता से उपजी उस 'व्यवस्था' से है जहाँ उत्पादन से लेकर निर्णयन प्रक्रिया तक में महिलाओं के साथ भेदभाव किया जाता है। इस दोहरी शोषणकारी व्यवस्था को बहुधा 'पितृसत्तावाद' (Patriarchy) से निरूपित किया जाता है। पितृसत्ता का शाब्दिक अर्थ होता है—पिता का शासन। जाहिर है कि यह पिता अर्थात् पुरुषों का शासन है। इस व्यवस्था की स्त्री विमर्शकारों ने कई स्तरों पर आलोचना की है। इसके सैद्धान्तिक पक्ष को देखने से पहले कुछ उदाहरणों के माध्यम से यह समझना समीचीन होगा कि पितृसत्तावाद कैसे महिलाओं को दोगुना दर्जा प्रदान करता है? भारतीय समाज का संदर्भ लेते हुए परिवार को अगर एक इकाई मान लें, तो अपवादों की गणना न करने पर सामान्यतः महिलाओं का कार्य घर का खाना बनाना, बच्चों का लालन-पालन करना या इन जैसे ही अन्य कार्य हैं। अक्सर ये कहा-सुना भी जाता है कि जो स्वाद माँ के हाथ से बने खाने में है और किसी में नहीं है।

अब, यहाँ एक बात गौर करने लायक है कि यदि माँ अर्थात् स्त्री इतना ही सुंदर खाना बनाती है तो वह अपने इस कौशल का उपयोग घर के बाहर भी कर सकती है। लेकिन वास्तविकता ये है कि अधिकांश होटलों और रेस्त्राओं में 'शेफ' अर्थात् खाना बनाने वाले पुरुष हैं। इसका क्या अर्थ है? क्या स्त्रियों का ये कौशल घर से बाहर निकलते ही समाप्त हो जाता है? नहीं। वस्तुतः यह पितृसत्तावाद का वह स्वरूप है जहाँ पुरुष उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखना चाहता है। आर्थिक गतिविधियों पर एकाधिकार रखने की यही पुरुषवादी मानसिकता स्त्री कौशल के मौद्रकीकरण की राह में बाधक है। एक अन्य उदाहरण लें तो आमतौर पर ये देखा जाता है कि प्राथमिक स्तर के विद्यालय में महिला शिक्षिकाओं की संख्या काफी अधिक होती है, लेकिन ज्यों-ज्यों यह स्तर ऊपर उठता जाता है उनकी संख्या कम होती जाती है, तो क्या ये मान लिया जाए कि महिलाएँ इस योग्य नहीं हैं कि वो उच्च शिक्षण संस्थानों में अध्यापन कर सकें या फिर कोई पूर्वाग्रह है जो आर्थिक गतिविधि के उच्च स्तर पर स्त्रियों को आने से रोकता है? इन दोनों ही स्थितियों के मूल में पितृसत्तावाद है। यह स्थिति शिक्षा के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में तो और भी दारुण है। अगर अर्थव्यवस्था के कुछ उन क्षेत्रों की बात करें जहाँ महिलाओं की भागीदारी अधिक है, तो वे क्षेत्र हैं— प्राथमिक विद्यालय, खाद्य-प्रसंस्करण उद्योग, रिसेप्सनिस्ट, एयर होस्टेस इत्यादि। वस्तुतः ये घरेलू क्षेत्र के ही विस्तार हैं जहाँ स्त्रियों की भूमिका में आमूल-चूल संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होता। दसअसल, स्त्री विमर्श का प्रमुख उद्देश्य जीवन के हर क्षेत्र में समानता स्थापित करना है। यह तभी होगा जब अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी बढ़े तथा वह पुरुषों पर आश्रित मात्र न रहे।

हालाँकि, इस तरह के प्रश्नों से जूझने के लिये तथा समाज में व्याप्त ऐसे स्वरूपगत लक्षणों को उद्घाटित करने के लिये नारीवादी विमर्शकारों को लम्बा संघर्ष करना पड़ा है। ऐसे संघर्षों की विचार-भूमि कैसे निर्मित हुई यह समझने के लिये नारीवादी आंदोलन के आरम्भिक चरण को देखना होगा।

स्त्री विमर्शकारों की पहली लड़ाई तो उन दार्शनिक सिद्धांतों से थी जहाँ संपूर्ण दर्शन पुरुष-मूल्यों से परिपूर्ण होकर स्त्री-द्वेषी हो गया था। प्लेटो, अरस्तू, टेकार्रैं जैसे दार्शनिकों ने स्त्री को परिवार, प्रजनन तथा मातृत्व के साथ जोड़कर उसके अस्तित्व को पराश्रित तथा विस्तार को संकुचित कर दिया। जर्मन दार्शनिक हीगल ने तो स्त्री और पुरुष की दो अलग-अलग दुनिया का ही निर्माण कर डाला, जिसमें महिलाओं के लिये 'प्राइवेट स्फीयर' तथा पुरुषों के लिये 'पब्लिक स्फीयर' निश्चित किया गया। जाहिर है कि इसमें महिलाओं के लिये 'प्राइवेट स्फीयर' तथा पुरुषों के लिये 'पब्लिक स्फीयर' निश्चित किया गया। जाहिर है कि इसमें महिलाओं के सार्वजनिक जीवन के लिये कोई स्थान नहीं था। रूसो जैसे चिन्तक स्त्री को बौद्धिक गतिविधि के योग्य नहीं मानते थे। रूसो ने

सदाचार को भी स्त्री और पुरुष दोनों के लिये अलग-अलग निर्धारित किया। जैविक तात्त्विकवाद के दर्शन ने तो पुरुष को जन्मना श्रेष्ठ व योग्य तथा स्त्री को जन्मना सामान्य माना। इस प्रकार, लैंगिक विभेद की जीवशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत कर स्त्री-पुरुष के बीच व्याप्त असमानता को वैध घोषित करने का प्रयास किया गया। आरंभिक नारीवादियों ने इसी पुरुषवादी व्याख्या की आलोचना प्रस्तुत की तथा यह दिखाने का प्रयास किया कि ये विभेद प्राकृतिक न होकर मानव निर्मित या यूनै कहें कि पुरुष-निर्मित हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल, मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट, जेम्स स्टर्बा, सिमोन द बोउवार जैसे चिंतकों ने लैंगिक समानता की बात कही। इस संदर्भ में वोल्सनक्रॉफ्ट की रचना 'अ विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वुमन' मील का पत्थर साबित हुई। वोल्सनक्रॉफ्ट ने ज्ञान के क्षेत्र में स्त्री और पुरुष के बीच व्याप्त किसी भी प्रकार के अलगाव को मानने से इनकार कर दिया। आगे सिमोन उ बोउवार ने 'द सेकेंड सेक्स' में कहा कि "स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बना दी जाती है।" यह वाक्य उस पूरी संरचना की ओर इशारा था जहाँ संस्थागत रूप से स्त्रियों को 'कमतर मनुष्य' बनाने की प्रक्रिया चल रही थी। हीगेल के दो दुनियाओं के निर्धारण का खंडन करते हुए जेम्स स्टर्बा ने स्त्री-पुरुष सहअस्तित्व पर बल दिया। ऐसे अनेक मतों ने नारीवाद को एक मजबूत वैचारिक आधार प्रदान किया। इस नींव पर कालांतर में अनेक नारीवादी संगठन स्थापित हुए तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी।

यद्यपि नारीवाद के मूल में नारी सशक्तीकरण का भाव है किन्तु प्रक्रियागत भिन्नता तथा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण में अंतर से इसके कई संस्करण प्रचलित हैं। एक समूह उदारतावादी नारीवाद का है। इस समूह का मुख्य विचार जनतांत्रिक व्यवस्था के भीतर राजनीतिक और कानूनी प्रक्रियाओं के माध्यम से स्त्री विमुक्ति की राह तलाशना है। इसके लिये वो अवसर की समानता चाहते हैं ताकि असमानता को दूर करने का जमीनी समाधान खोजा जा सके। दूसरा समूह समाजवादी-मार्क्सवादी नारीवाद का है। ध्यातव्य है कि पहली बार 'फेमिनिजम' शब्द का प्रयोग यूटोपियाई समाजवादी चार्ल्स फ्यूरिये ने किया था, जिसका संदर्भ पुरुषों में स्त्रियोचित गुण तथा स्त्रियों में पुरुषोचित गुण से था। आगे मार्क्स व एंगेल्स ने प्रतिपादित किया कि सम्पत्ति पर आधारित सामाजिक-संस्थाओं के निर्माण के कारण स्त्री शोषण का आरंभ हुआ। इसके समाधान के लिये इन विचारकों ने सुझाया कि सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ानी चाहिये। इसी विचार से रैडिकल नारीवादी समूह को भी प्रेरणा प्राप्त हुई जिसने आमूल-चूल परिवर्तन को भी संचालित करता रहा। सिग्मंड फ्रॉयड तथा जॉक लकाँ के विचारों ने मनोवैश्लेषिक नारीवाद को जन्म दिया। इसके मूल में यह बात थी कि स्त्रीत्व को पुरुषत्व के संदर्भ-विन्दु की गिरफ्त से निकाला जाए।

अपने संस्करणों में इतनी विविधता रखने के बावजूद नारीवाद का बुनियादी लक्ष्य एक ही है। इस निष्कर्ष को इसके सतत विकासमान रहने की प्रक्रिया के माध्यम से समझा जा सकता है। नारीवाद का प्रारंभिक चरण औद्योगीकरण के कारण यूरोप में आए सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों से प्रोत्साहित हुआ। फिर प्रथम विश्वयुद्ध ने भी महिलाओं को सार्वजनिक जीवन में प्रवेश दिलाया, क्योंकि पुरुष लड़ाई पर गए थे तथा कई जरूरी काम जो अन्यथा पुरुष करते थे अब महिलाओं को करना पड़ रहा था। नारीवाद की इस प्रथम लहर का मुख्य ध्येय मताधिकार, रोजगार, सम्पत्ति पर अधिकार इत्यादि अधिकारों को प्राप्त करना था। नारीवाद की दूसरी लहर 1960 के दशक में आरंभ हुई। यह दौर अधिक रैडिकल था, इसने हर तरह से स्त्री विमुक्ति की बात की। इस दूसरी लहर के नारीवाद ने स्त्री

को एक शोषित सामाजिक समूह तथा यौनिक गुलाम के रूप में देखा। सीमोन द बोउवार, बेट्टी फ्रीडन तथा फायरस्टोन इस दौर के प्रमुख चिंतक थे। हालाँकि यह दौर अधिक रैडिकल होने के कारण कम व्यावहारिक था। 1990 के दशक में नारीवाद की तीसरी लहर चली। दलित नारीवाद तथा अश्वेत नारीवाद इस दौर का प्रमुख हस्तक्षेप है। यह नारीवादी आंदोलन का विस्तार ही है जिसके दायरे में दलित और अश्वेत स्त्रियाँ आईं।

वस्तुतः यह नारीवाद की तीसरी लहर ही है जिसने इस मान्यता पर जोर दिया कि एक जैसे सिद्धांत से सम्पूर्ण दुनिया की स्त्रियों का उद्धार नहीं किया जा सकता। अतः भिन्न-भिन्न समस्याओं के लिये समाधान भी अलग-अलग खोजे जाने चाहिये। इस विमर्श ने भारतीय नारीवाद को प्रभावित किया तथा इस बात पर विचार प्रारंभ हुआ कि इसे भारतीय समाज में किस प्रकार ढाला जा सकता है? इसी संदर्भ में 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' जैसी शब्दावली का प्रयोग किया गया। अर्थात् दलित स्त्रियाँ 'जाति, वर्ग और पितृसत्ता' के तिहरे शोषण की शिकार हैं। साथ ही, इससे इस बात पर बल पड़ा कि दलित स्त्रियाँ तथा सर्वर्ण स्त्रियाँ दोनों बिल्कुल समरूपी समुदाय नहीं हैं तथा दोनों के शोषण में न केवल मात्रात्मक बल्कि गुणात्मक अंतर भी है। इस प्रकार भारत के नारीवादी संस्करण में भिन्नता थी।

भारतीय और पश्चिमी नारीवाद में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी है कि पश्चिम में नारीवाद तब प्रारंभ हुआ जब वहाँ महिलाओं को कुल मूलभूत अधिकार प्राप्त थे तथा कुछ समय बाद उन्हें अन्य राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकार मिलने शुरू हो गए। इसलिये उनकी मांगों में यौन उन्मुक्ति, पुरुष वर्चस्व से मुक्ति इत्यादि जैसे शब्द जुड़ते गए। भारत में स्थिति ठीक ऐसी नहीं थी। भारत में अभी महिलाओं को बुनियादी आर्थिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना शेष था। अतः स्वाभाविक रूप से यहाँ की मांगों में भी भिन्नता थी। हालाँकि यहाँ भी महिलाओं का ऐसा अधिकार प्राप्त वर्ग था जो बुनियादी सुविधाओं को प्राप्त कर चुका था, अतः उनकी मांगों में भी यौनिक स्वच्छंदता ही प्रमुख रही जबकि एक दूसरा भारत जिसकी महिलाओं के लिये अभी भी शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि जैसे मुद्दे ही प्रमुख हैं।

हालाँकि, अब भी नारीवादी आंदोलन पर उच्चवर्गीय चरित्र हावी है, इसलिये उनकी मांगों में यौन स्वच्छंदता जैसे मुद्दे ही सर्वप्रमुख हैं। ऐसा नहीं है कि यौन आजादी एक गलत मांग है, किन्तु अधिक महत्वपूर्ण यह है कि प्राथमिकताएँ तय हों कि कौन-सी मांग अधिक बड़े समूह की जरूरत को पूरा करती है। आज भी भारत की अधिकांश महिला जनसंख्या शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार जैसी मूलभूत सुविधाओं से वंचित हैं। गर्भपात से लेकर परिवार नियोजन तक की जागरूकता का अभाव है। स्त्री विमर्श की धारा यहाँ तक पहुँचनी चाहिये तभी सच्चे अर्थों में स्त्री मुक्ति के स्वप्न को यथार्थ में बदला जा सकता है। हाँ, ये सच है कि धीरे-धीरे इसका समावेशीकरण हो रहा है किन्तु इसकी रफ्तार बहुत धीमी है। यही समन्वय इसकी सफलता को भी निर्धारित करेगा। साथ ही, स्त्री विमर्शकारों को यह हठ त्यागना होगा कि पुरुष जन्मना स्त्री-द्वेषी है और पुरुषों को स्त्रियों के ऊपर लिखने का हक नहीं है। भ्रूण हत्या, दहेज प्रथा, तीन-तलाक इत्यादि अनेक कुप्रथाएँ अभी भी समाज में व्याप्त हैं जिसका हल ढूँढना शेष है। स्त्री विमर्श की दिशा इन्हीं चुनौतियों से निपटने में होनी चाहिये।

प्रसिद्ध नारीवादी लेखिका जेर्मेन ग्रीर का मानना है

"पुरुष अगर आज बदला हुआ नजर आता है तो इसलिये नहीं कि वह 'फेमिनिस्ट' (नारीवादी) रवैया अख्तियार कर रहा है— वस्तुतः वह

आर्थिक दबावों के कारण उदार नजर आ रहा है।" और यह सच भी है कि औरत की आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता ने पुरुष का जीवन कहीं ज्यादा सहज और आसान बनाया है। वह पुरुष चाहे पिता हो, भाई हो या पति। लेकिन यह विडंबना ही है कि भारतीय समाज में खास तौर पर पुरुष के लिये महिलाओं की यह स्थिति स्वीकार कर पाना बहुत ही अपमानजनक हो गया है। परिस्थितियों के विरुद्ध अनेक चुनौतियों से लड़ती अकेली स्त्री के संघर्षों को पुरुष ने अपने पूर्वाग्रहों के कारण और ज्यादा चुनौतीपूर्ण बना दिया है। स्त्री का संघर्ष किसी भी मायने में पुरुष के खिलाफ संघर्ष नहीं है, बल्कि उसके साथ एक बराबर के व्यक्ति के तौर पर संबंध बनाने का प्रयास है। वस्तुतः स्त्री के तमाम संघर्ष पुरुष के खिलाफ न होकर उन तमाम स्थितियों के खिलाफ है जो उसे कभी शक्ति सम्पन्न होने ही नहीं देते। जहाँ उसके सशक्त होने के हर प्रयास का दमन कर दिया जाता है।

अक्सर सभी महिलाओं को इस आधार पर सशक्त मान लिया जाता है कि फलों महिला देश की प्रधानमंत्री बन गईं, फलों महिला देश की सबसे बड़ी व सबसे पुरानी राजनीतिक पार्टी की अध्यक्ष हैं, फलों महिला किसी कंपनी की सीईओ बन गई है आदि। ऐसे तर्क देकर यह साबित करने की पूरी कोशिश की जाती है चूँकि अमुक क्षेत्रों में महिलाएँ सर्वश्रेष्ठ पदों पर पहुँच चुकी हैं इसलिये भारत में भी महिलाएँ सशक्त हो रही हैं और शक्ति संपन्नीकरण की तरफ बढ़ रही हैं। हमने उंगली पर गिनी जा सकने वाली चंद शक्ति-संपन्न सफल एक या दो प्रतिशत महिलाओं के आधार पर महिलाओं को सशक्त ठहराने की कोशिशें तो भरपूर कीं, परन्तु क्या कभी उन 98 प्रतिशत महिलाओं के बारे में सोचा जो 'ऑचल में दूध और आँखों में पानी' लिये अपने अस्तित्व की खोज में, मुक्ति की तलाश में दर-बदर भटकने को मजबूर हैं? शक्ति उसको दी जाती है जिसकी कुछ सत्ता हो परन्तु यहाँ तो महिलाएँ जीवन के सामान्य साधन ही जुटा लें यही बड़ी बात है। खासकर उस समाज में जहाँ उन्हें एक वस्तु से इतर कुछ नहीं समझा जाता, एक सामान्य नागरिक भी नहीं। पुरुषों की युगों-युगों की सत्ता, जिसके इतिहास, वर्तमान और भविष्य सब के मूल में पुरुष है, उस पुरुष की सत्ता को छीनने का दुस्साहस एक कमजोर महिला करे यह कैसे संभव है। मर्दवादी अहं इसे कैसे स्वीकार कर लेगा भला। महिलाओं को दिये गए राजनीतिक अधिकारों में पुरुष ने किस तरह से पैठ बनाई है, उसमें कुछ पदों का यह नमूना देखने से पता चल जाएगा जहाँ महिला भले ही प्रधान बनी हो मगर निर्णय 'प्रधानपति' ही करेंगे, वह तो मात्र हस्ताक्षर करने के लिये ही बनी है और कमोवेश यही स्थिति विधायक और सांसद पत्नियों को भी है। सांसद, विधायक या फिर प्रधान महिला पति के विरुद्ध जाए इसकी कल्पना भी उसके लिये असंभव है।

हालाँकि महिला शक्ति सम्पन्नीकरण की जितनी चुनौतियाँ हैं, संभावनाएँ भी उतनी ही ज्यादा हैं क्योंकि पिछले सौ वर्ष और वर्तमान की महिलाओं की स्थिति की तुलना करें तो कुछ सकारात्मक मूलभूत बदलाव जरूर आए हैं और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की दीवारें भी हिली हैं। उनके शोषण के असहनीय तरीकों में बहुत ही सकारात्मक बदलाव आए हैं। विभिन्न खेलों से लेकर सेना, राजनीति, मीडिया और फिल्में हर जगह महिलाओं की भागीदारी बढ़ रही है। परिवर्तन चाहे सोच में हो चाहे समाज में एक दिन में नहीं लाया जा सकता, इसमें सदियों लग जाती हैं। शूद्र, दलित, स्त्री इन तीनों के प्रति व्यवहार में आजादी के पहले और उसके बाद की परिस्थितियों में काफी फर्क आया है। दमित और उपेक्षित इन तीनों वर्गों के प्रति समाज के नजरिये में तो बदलाव आया ही है, साथ ही साथ हमारे नीति-निर्माताओं ने ऐसे

समाज की रचना की, ऐसे नियम-कानून बनाए, संविधान में आरक्षण की ऐसी व्यवस्था की गई तथा ऐसे ही अन्य कानूनी प्रावधान किये गए जिससे इन वर्गों को अधिकार भी मिल रहे हैं; ये आर्थिक रूप से सशक्त भी हो रहे हैं और समाज की मुख्य धारा में शामिल भी हो रहे हैं। परंतु जमीनी हकीकत यही है कि मुख्य धारा में शामिल होने वाली महिलाओं की संख्या नगण्य ही है। हमारे वर्तमान संविधान में तो महिलाओं के लिये, उनके हितों की रक्षा के लिये विभिन्न प्रावधान कर दिये गए परन्तु यह विडंबना ही है कि व्यावहारिक रूप में इन प्रावधानों की स्वीकार्यता न के ही बराबर है। नारीवादी विमर्शों और महिला अधिकारों के लिये किये गए विभिन्न आंदोलनों में दो स्तरों पर स्त्रियों के अधिकारों की वकालत की गई है। पहला, निजी पसंद-नापसंद के आधार पर और दूसरा, सामूहिक अधिकारों के स्तर पर निजी अधिकारों के तहत। जिस बात पर बहस सबसे ज्यादा हुई है वह है स्त्री का अपने शरीर पर अधिकार, जहाँ उसकी यौन स्वतंत्रता उसकी इच्छाओं से जुड़ी है, उसका शरीर उसके पति की मिल्कियत नहीं है बल्कि इस पर सबसे पहला अधिकार स्वयं उस स्त्री का ही है बाकी चीजें उसकी इच्छा पर ही निर्भर है।

सामूहिक अधिकारों के तहत नारीवाद के पैतृक संपत्ति में लड़कियों की समान भागीदारी, यातनादायी और उत्पीड़क वैवाहिक संबंधों से अलग होने के लिये तलाक का अधिकार, स्त्रियों के सम्मानजनक रोजगार, समान काम के लिये पुरुषों के समान वेतन और समाज तथा राजनीति के स्तर पर निर्णयों में समान भागीदारी के मुद्दे उठाए हैं। परन्तु सिद्धान्त और विचार के स्तर पर जिन स्त्री अधिकारों को स्थापित करने में सफलता मिली है उन्हें परिवार और समाज के स्तर पर अभी आमतौर पर व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता है। स्त्री-विरोधी तमाम मूल्य इतने ठोस तरीके से समाज के स्तर पर अभी आमतौर पर व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका है। स्त्री-विरोधी तमाम मूल्य इतने ठोस तरीके से समाज में स्थापित हो गए हैं कि इनकी जड़ों को हिलाना इतना आसान काम नहीं है। राज्य के अधिकारी वर्ग, पुलिस और कानून द्वारा भी स्त्री के साथ जो भेदभाव और दुर्व्यवहार किया जाता है वह औरत को सभी प्रकार के अपमान और अनाचार को सहने के लिये विवश करता है। समानता और स्वतंत्रता की सुन्दर शब्दावलिियाँ गढ़ने में दक्ष संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रशासन तंत्र में भी स्त्रियों की भागीदारी सिर्फ 15 प्रतिशत ही है। दुनिया के अब्बल माने जाने वाले 96 देशों के विधानमण्डलों में उन्हें अभी तक सिर्फ 10 प्रतिशत जगह ही मितल पाई है। अमेरिका जैसे देश में भी महिलाएँ हमेशा घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं अथवा इस आशंका से आशंकित रहती हैं। पाकिस्तान नाभिकीय अस्त्र बनाकर भले ही खुद के प्रगतिशील होने का दावा करे मगर वहाँ की न्याय व्यवस्था का हथ्र आज भी यह है कि वहाँ दो महिलाओं की गवाही को एक पुरुष के बराबर माना जाता है और वहाँ 70 प्रतिशत महिला अपराधी जिन जुर्मों में सजा काट रही हैं उन्हें पुरुषों के संबंध में अपराध माना ही नहीं जाता है। भारत में प्रति हजार पुरुषों पर महज 943 महिलाएँ ही बची हैं। भारत में हर 20वीं औरत जीवन की किसी-न-किसी अवस्था में आत्महत्या का प्रयास करती है। युद्ध होने वाले विस्थापन के शिकार दुनिया भर के शरणार्थियों में औरतें और बच्चे हैं। स्त्री के विरुद्ध इस्तेमाल किया जाने वाला सबसे क्रूर हथियार बलात्कार है।

यह सच है, महिलाओं को दिये गए शक्ति और अधिकार सिद्ध नहीं हो रहे हैं, परन्तु इन चुनौतियों के बीच एक संभावना की खोज अवश्य की जा सकती है। स्त्री-अधिकार का सीधा संबंध 'जीने के अधिकार' से है इसलिये इसे खेत-जमीन, पर्यावरण संरक्षण तथा

मजदूर आंदोलनों से जोड़े जाने की जरूरत है। अंतर्राष्ट्रीय और स्थानीय स्तरों पर एक गैर-सरकारी स्त्री आयोग बने जो निगरानी और दबाव समूह का काम करे। प्रशासन और पुलिस जहाँ न्याय दिलाने में अक्षम साबित हो वहाँ यह आयोग न्याय प्रक्रिया में सीधा हस्तक्षेप कर सके। स्त्री को मनुष्य का दर्जा दिलाने की लड़ाई समाज के भीतर रहकर ही लड़नी है। स्त्री को सशक्त बनाने का लक्ष्य उसे एक 'प्रति-पुरुष' बनाना नहीं बल्कि स्त्री और पुरुष के बीच अधिकतम समानता पर टिके एक ऐसे समाज की रचना करना है जहाँ स्त्री पुरुष से एक दर्जा नीचे रहने के दर्द से स्थायी रूप से मुक्त हो सके।

संदर्भ

1. रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
2. क्षमा शर्मा, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
3. राजेन्द्र यादव (संपा0), अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
4. अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।
5. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली।
6. रमणिका गुप्ता, स्त्री मुक्ति : संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. सुधीश पचौरी, उत्तर आधुनिक दौर में साहित्य, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली।